



वैदिक एवं वैदिकोत्तर काल में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन

डॉ० संजय कुमार मिश्रा

सहायक प्राध्यापक इतिहास, एस. आर. पी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हनुमना, जिला रीवा (म.प्र.), भारत।

सारांश

संस्कृति विकास के श्रेष्ठ काल वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति सुखद रही। वैचारिक, पारिवारिक, धार्मिक स्वतंत्रता के इस दौर में महिलाओं का समान और प्रतिष्ठा पुरुष से कम समाज में नहीं था। शिक्षा और आत्म विकास के मार्ग महिलाओं के लिए खुले थे। सामाजिक प्रतिबद्धता और वर्जनाएँ कठोर नहीं होने से आत्मतुष्टि और समग्र विकास के मार्ग पुरुषों के समान ही महिलाओं के लिए खुले थे। शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में बराबर की सहभागिता से महिलाओं का पूर्ण विकास इस युग में हुआ। वे मातृत्व और पत्नित्व के लिए अपना सम्यक चिंतन रखती थीं। मान्यताएँ और परम्पराएँ जटिल और कठोर न होने के कारण नारी विकास के मार्ग सुलभ और सहज थे।

वैदिकोत्तर काल में सामाजिक व्यवस्था क्रमशः रूढ़िवादी होकर परम्परा निबद्ध होती गयी। समाज में पुरुषवादी व्यवस्था का जोर बढ़ता गया। फलतः महिलाओं के ऊपर बंधन धीरे-धीरे कठोरतम होते गये। जिसमें उनकी स्वतंत्र अस्तित्व तिरोहित होता गया। नारी व्यक्ति के स्थान पर वस्तु का रूप धारण करती गयी। वह पुरुष के अधिकार बोध का शिकार होते हुए उसकी अनुचरी के रूप में प्रयुक्त होने लगी। अर्थवादी समाज की रचना में नारी का स्थान दोगुना होने लगा। पुरुष परमेश्वर और नारी उसकी सेविका के रूप में पुरुषवादी समाज में स्वीकृत होने लगी। जिससे नारी के स्वतंत्र अस्तित्व में भरपूर कुठाराघात हुआ। नारी शोषण की परम्परा का श्रीगणेश वैदिकोत्तर काल में प्रारम्भ हुआ।

मूल शब्द : वैदिक, वैदिकोत्तर, सामाजिक, महिला, स्थिति, अध्ययन।

प्रस्तावना

वैदिककाल में परिवार का वरिष्ठ सदस्य स्त्रियों को शिक्षा दिया करता था, किन्तु "आचार्यों" का उल्लेख भी मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि माता-पिता अपनी पुत्रियों को उनके समीप शिक्षा ग्रहण करने भेजते थे, परन्तु स्त्री शिक्षिकाओं की संख्या अधिक नहीं थी।¹ इसी तरह घर से बाहर जाकर उच्च शिक्षा ग्रहण करने की प्रथा भी अधिक प्रचलित न थी।

वैदिक युग से ही स्त्री-पुरुष दोनों के लिए विवाह की अनिवार्यता समाज में थी किन्तु विवाह के लिए किसी पर जोर नहीं दिया जाता था। वैदिक साहित्य में 'अमाजूः' शब्द मिलता है जिसका तात्पर्य उस वृद्ध स्त्री से है जो आजीवन अविवाहित रहती थी। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों ही आजीवन अविवाहित रह सकते थे किन्तु अविवाहित रहने का मुख्य कारण शारीरिक अनुपयुक्तता विशेषरूप से थी। घोषा ने तब तक विवाह नहीं किया जब तक उसका चर्मरोग ठीक नहीं हो गया। इसके अतिरिक्त उच्च अध्ययनरत नारियाँ भी आजीवन ब्रह्मचरिणी रहती थीं। उपनिषद् काल में सलभा ने अध्यात्म द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए अविवाहित रहने का व्रत लिया था, किन्तु स्त्रियों के ब्रह्मचर्य को हर युग में मान्यता नहीं दी गई।

वैदिक युग में स्त्रियों का विवाह पूर्ण युवा होने पर ही होता था² तथा उन्हें अपनी रुचि का पति चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। वेदों में वर्णन मिलते हैं कि पर्वी या विशेष सामाजिक उत्सवों में आभूषणों से अलंकृत स्त्रियाँ अपने प्रेमियों को मोहने के लिए जाती थीं। अथर्ववेद में प्रेमी द्वारा प्रेमिकाओं को दिये जाने वाले उपहारों के वर्णन हैं। बाल विवाह के उदाहरण वेदों में अत्यल्पमात्रा में हैं। सूत्र युग के आगमन तक अवश्य बाल विवाह प्रारम्भ हो चुके थे तथा कन्या का विवाह ऋतुमति होने के पूर्व अथवा उसके एकदम पश्चात् किया जाने लगा। अधिकांश गृहसूत्रों में वधू के लिए "नग्निका" शब्द का प्रयोग किया गया है। अधिकांश व्याख्याकारों के अनुसार

"नग्निका" शब्द पाँच अथवा छः वर्ष की आयु में विवाहित वधू के लिए प्रयुक्त हुआ है। महाकाव्यों का युग युवती कन्या के विवाह का पक्षधर प्रतीत है। महाभारत में एक स्थल पर एक युवती ने साठ वर्ष के पुरुष से विवाह करने से अस्वीकार कर दिया था।³

वैदिक युग में युवक तथा युवतियों को अपने योग्य जीवन साथी का चुनाव करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। ऋग्वेद काल में स्वयंवर होते थे बाद में यह प्रथा क्षत्रियों में सर्वाधिक प्रचलित रही। स्त्री को पति का चुनाव करने की स्वतंत्रता महाकाव्यकाल में भी थी।⁴ किन्तु अल्पायु में विवाह प्रारम्भ होते ही इस प्रथा का विलोप होने लगा। पुराणों में इस प्रथा का घोर विरोध किया गया। अधिकांश विवाह माता-पिता द्वारा आयोजित किये जाने लगे। पाँचवीं शती में कन्या द्वारा वर का चुनाव अमर्यादित समझा जाता था। माता-पिता विवाह आयोजित करते समय गौत्र तथा कुटुम्ब पर काफी विचार करते थे। जिससे वंश की शुद्धता बनी रहे। बौद्ध जातकों तथा जैन आगमों में भी समान स्थिति तथा समान व्यवसाय के लोगों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर वंश शुद्धता रखने का प्रयत्न किया गया तथा कुल प्रतिष्ठा को भंग होने से बचाया गया। वंश शुद्धता के साथ-साथ "कन्यादान" का महत्व बढ़ा और हिन्दू समाज में उसे धार्मिक दृष्टि से देखा गया, किन्तु इसकी अनिवार्यता अपवाद रही। इस सम्बन्ध में श्री संपूर्णानन्द ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "हमारी स्मृतियों ने ऐसा कहा है कि विवाह आठ प्रकार के होते हैं। ब्रह्म, देव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, संधर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें से कुछ को तो विवाह कहना भाषा के साथ अन्याय करना सा प्रतीत होता है। स्मृति कारों ने इनको इसलिए विवाह की पदवी दी है कि इनसे जो सन्तान उत्पन्न हो वैध मान ली जाये और निराश्रय न रहे। स्मृतियों में ब्रह्म विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ तथा पवित्र बतलाया है परन्तु साथ ही साथ गांधर्व को भी मान्यता दी है। कोई स्त्री-पुरुष साथ रहते हों और दंपति जैसा व्यवहार करते हों और

उनका विवाह अन्य किसी कारण से अवैध न होता हो तो उनके इस सम्बंध को विवाह जैसा मान लिया जाता है। गंधर्व विवाह में कन्यादान के लिए कोई स्थान नहीं है।⁵

अन्तर्जातीय विवाह को समाज में सदैव मान्यता दी गई। उच्चवर्ग का पुरुष निम्नवर्ग की स्त्री से विवाह कर सकता था और इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न पुत्रों के सांपत्तिक अधिकार के नियम का उल्लेख धर्मशास्त्रों में किया गया है। साहित्य के अतिरिक्त पुरातात्विक प्रमाणों से भी अंतर्जातीय विवाह की पुष्टि होती है। ब्राह्मण शुंग शासक अग्निमित्र का क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह तथा सोम ब्रह्मण द्वारा क्षत्रिय कन्या से विवाह का विवरण पाँचवीं शताब्दी के अभिलेख में मिलता है। स्मृतिकारों ने उच्चवर्ण के पुरुष तथा निम्न वर्ग की कन्या के विवाह को अनुलोभ तथा निम्नवर्ण के पुरुष और उच्चवर्ण के विवाह को प्रतिलोभ विवाह कहा है। ये दोनों ही अंतर्जातीय विवाह हैं। विवाह में दहेज प्रथा को स्थान नहीं दिया जाता था किन्तु सम्पन्न परिवारों में भेंट के रूप में कुछ धन वर को विवाह के अवसर पर दिया जाता था। धनी वधू अपने साथ दहेज में सौ-सौ गाय लाती थी। बौद्धजातक कथाओं तथा जैन साहित्य में भी कन्याओं को विवाह में भेंट दी जाने वाली बहुमूल्य वस्तुओं का वर्णन है। स्मृतियों तथा संस्कृत नाटकों में यद्यपि दहेज का उल्लेख नहीं है किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि कन्या को विवाह के समय उपयुक्त आभूषण दिए जाते थे तात्पर्य यह हुआ कि पिता अपनी सामर्थ्य के अनुसार वधू को वस्तुएँ भेंट देता था।

वैवाहिक जीवन में पत्नी को कुल-भूषण मानकर वैदिक परिवार में उसे श्रेष्ठ स्थान दिया गया। आध्यात्मिक तथा नैतिक शक्ति से परिपूर्ण नारी को विश्वामित्र जैसे ऋषी ने मान्यता दी तथा पत्नी को 'गृह' (जायेदस्तम) संज्ञा से विभूषित किया। क्योंकि पत्नी के अभाव में मानव जीवन का उचित उपयोग असम्भव था। सृष्टि की रचना में भी सांख्यदर्शन की वधू प्रकृति तथा पुरुष का संयोग आवश्यक था तथा पति द्वारा सम्पन्न होने वाले धार्मिक कृत्यों में भी पत्नी की नितान्त आवश्यकता थी। जीवन में पत्नी की इस नितान्त आवश्यकता के कारण ही पत्नी की मृत्यु हो जाने के पश्चात् दूसरा विवाह का प्रावधान बना, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में विधवा स्त्रियों के धार्मिक कृत्यों को महत्वहीन करार देकर उसके लिए दूसरे विवाह का प्रावधान नहीं रखा गया।

ऋग्वेद - परिवार में पत्नी के रूप में स्त्री रानी की तरह सम्मानित थी तथा श्वसुर कुल में वह घर के बड़े लोगों पर राज भी करने लगती थी।⁶ पति के जीवन के प्रत्येक पहलू में पत्नी का महत्व था। अपत्नीक यज्ञ का अधिकार पति को न था। इसलिए पति-पत्नी दोनों संयुक्त रूप से यज्ञ सम्पन्न करते थे। न केवल संयुक्त, अपितु पृथक रूप से भी स्त्रियाँ यज्ञ करती थीं। प्राचीनकाल में पत्नी द्वारा किए जाने वाले कई कार्य पुरोहितों द्वारा होने लगे। सतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि बनाने का कार्य बाद में अग्नि प्रज्वलित करने वाला पुरोहित करने लगा। बौद्ध काल के आते तक परिवार में उनके साथ दुर्व्यवहार होने लगा। अतः वधुओं ने सोलह वर्ष की आयु में ही घर त्यागकर भिक्षुणी होना स्वीकार किया। 1500 ईसा पूर्व से स्त्रियों को यज्ञों से बाहर निकालने की प्रवृत्ति से हिन्दू परिवार में स्त्रियों की स्थिति में अधःपतन का प्रारंभ हुआ। रजस्वला स्थिति में पत्नी अपवित्र होती थी अतः उसे सदैव के लिए अपवित्र मानकर तथा कर्मकाण्ड की जटिलता बताकर उससे यज्ञ करने का अधिकार तो छीना ही, साथ ही सभी धार्मिक कार्यों के अनुपयुक्त मानकर उन्हें अधिकारों से वंचित कर अवांछनीय हेय स्थिति तक पहुँचा दिया। उनकी यह स्थिति दूसरी शती ई. पू. तक हो चुकी थी, किन्तु

पारिवारिक जीवन में अभी भी उसे सम्मान योग्य ही समझा जाता था। महाभारत में पत्नी को पति की प्रसन्नता की कुंजी कहा गया है, क्योंकि पुत्र, पुत्रियों, पुत्र वधुओं से घर परिपूर्ण होने पर भी व्यक्ति का जीवन पत्नी के बिना सूना होता है तथा गृहिणी विहीन घर वन के समान होता है, यह मान्यता थी। गृह व्यवस्था पत्नी के हाथों में सौंपकर सभी कार्यों में उसके विचार लिए जाते थे। जहाँ एक ओर दूसरी शती ई. पू. में पत्नियों से अधिकार छीने जा रहे थे वहीं दूसरी ओर मनु कह रहे थे कि "संतानोत्पादन के लिए वस्त्राभूषण से आदर सत्कार के योग्य गृह की शोभा रूपिणी ये स्त्रियाँ लक्ष्मी स्वरूप हैं।"⁷ इतना ही नहीं मनु नारी-पुरुष में एकता भी मानते हैं। यह परम्परा ब्राह्मण ग्रन्थों की थी जिनमें पति-पत्नी के संबंधों को मित्रवत् माना गया। महाभारत ग्रन्थ भी उसका समर्थन करता प्रतीत होता है।

पूर्व वैदिक युग में बहु पत्नी प्रथा के उदाहरण अत्यन्त न्यून हैं। सम्भवतः अधिक पत्नियाँ होने पर लोगों को परेशानी होती थी। जैसा कि ऋग्वेद में एक उदाहरण मिलता है कि जिस प्रकार चारों ओर से शत्रु का आक्रमण होने से परेशानी होती है उसी प्रकार एक पति अपनी ईर्ष्यालु पत्नियों से स्वयं को परेशान पाता है। बहुपत्नी प्रथा इस युग में मध्यमवर्ग में अपवाद स्वरूप ही मिलती है। शासकीय वर्ग में अवश्य इस प्रथा का प्रचलन था जो कि राजनीतिक शक्ति के लिए उपयोगी भी था। उत्तर वैदिक काल में बहुपत्निक प्रथा का समाज के कुछ वर्गों ने पूर्णतया अपना लिया था और महाकाव्य काल में भी यह प्रथा प्रचलित रही। यह बहुपत्नी प्रथा स्त्रियों की समाज में हीन स्थिति तक पहुँचाने के लिए उत्तरदायी रही है, क्योंकि पुरुष बहुपत्नी रखकर अपनी रुचि के अनुरूप आनंद लाभ लेता रहा जबकि पत्नी के "एक पतिव्रत" के आदर्श ने उसके दासत्व में वृद्धि की। बहुपत्निक प्रथा समाज में कदाचित ही प्रचलित थी, क्योंकि इसका उदाहरण केवल महाभारत में मिलता है जहाँ "द्रोपदी" के पति पंच पाण्डव थे। महाभारत ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो बहुपत्निक प्रथा का पक्षपाती है।

ई. शती के आरम्भ में किसी न किसी रूप में विवाह संबंध विच्छेद की अनुमति थी। वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार एक स्त्री अपने पहले पति के जीवन काल में ही दूसरा विवाह कर सकती थी। स्मृतिकारों के अनुसार यदि किसी स्त्री का पति पागल, नपुंसक अथवा ऐसे रोग से ग्रसित होता जो अच्छा नहीं हो सकता था तो पत्नी उसका त्याग कर सकती थी।⁸ यदि पति पत्नी का त्याग करता था तो उसे आय का भाग पत्नी की जीविका के लिए देना पड़ता था। कौटिल्य ने आठ प्रकार के विवाहों में से प्रथम चार प्रकार के विवाहों में जिनमें ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्रजापत्य विवाह आते हैं, संबंध विच्छेद होने की संभावना अस्वीकार कर दी थी क्योंकि ये विवाह धर्म्य विवाह थे जो पिता के द्वारा सुयोजित होते थे, किन्तु अन्य विवाह जैसे गांधर्व, आसुर अथवा राक्षस प्रकार से सम्पन्न होते थे और पति-पत्नी दोनों एक दूसरे से घृणा करते थे तो आपसी सलाह से संबंध विच्छेद कर सकते थे किन्तु किसी एक पक्ष के अस्वीकार कर देने पर संबंध विच्छेद नहीं हो सकता था।

विधवा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है किन्तु उसकी सामाजिक स्थिति का बोध नहीं होता। एक स्थान पर वर्णन है कि "मरुत के वेग से जिस प्रकार पृथ्वी काँपने लगती है उसी प्रकार पति से विछोह होने (मृत्यु होने) पर स्त्री दुःखी अथवा दुर्व्यवहार के भय से काँपती है।"⁹ इस वर्णन से इतना अनुमान अवश्य लग जाता है कि विधवा स्त्री के साथ परिवार में दुर्व्यवहार होता था तथा बाद में उस पर अनेक विधि-नियम लाद दिये गये थे। धर्म सूत्रों में विधवा धर्म पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

साहित्य में 'पुनर्भू' शब्द मिलता है। यह शब्द ऐसी विधवा स्त्री के

लिए प्रयुक्त हुआ है जिससे पुनर्विवाह किया हो। जो स्त्री अपनी युवावस्था में पति को छोड़कर अन्य व्यक्ति के साथ कुछ समय रहकर पुनः पति के यहाँ वापस आकर रहने लगती थी, उसके पुत्र को 'पुनर्भव' कहा जाता था अथवा ऐसी स्त्री के पुत्र को भी पुनर्भव कहा जाता था जिसने अपने अयोग्य पति को त्यागकर दूसरा विवाह किया हो। अथर्ववेद में उल्लेखित विधवा विवाह से सिद्ध होता है कि वैदिक समाज में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित था तथा वह किसी भी व्यक्ति से विवाह कर सकती थी किन्तु "नियोग" प्रथा को पुनर्विवाह की अपेक्षा समाज में अधिक मान्यता दी गई थी। धर्मशास्त्रकारों ने पति की मृत्यु हो जाने पर अथवा मृत्यु की संभावना होने पर ही पुनर्विवाह की अनुमति दी थी।

वैदिक समाज में विधवा पुनर्विवाह तथा नियोग प्रथा प्रचलित होने के कारण सती प्रथा का वह रूप नहीं था जो हमें बाद में दिखाई देता है। कुछ वैदिक मंत्रों के आधार पर विद्वान यह अनुमान अवश्य लगाते हैं कि सती प्रथा अस्तित्व में थी किन्तु ये विवरण विवादपूर्ण हैं। डॉ. अल्तेकर के अनुसार अथर्ववेद के कुछ अंश दर्शाते हैं कि वैदिक युग में अन्त्येष्टि क्रिया के समय प्रचलित औपचारिकता से सती प्रथा के अस्तित्व का बोध होता है।¹⁰ प्रथा के अनुसार विधवा अन्त्येष्टि क्रिया के समय मृत पति के बाजू में लेटती थी, बाद में उससे उठने को कहा जाता था तथा प्रार्थना द्वारा उसे संतान एवं सम्पत्ति से युक्त उन्नत जीवन व्यतीत करने का आशीर्वाद दिया जाता था। ब्राह्मण साहित्य तथा गृहसूत्र सती प्रथा का उल्लेख नहीं करते। विष्णु धर्मसूत्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र ने सती के विषय में कोई निर्देश नहीं दिए हैं।

वैदिककाल में तो स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्राप्त थे तथा धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों में दोनों समान रूप से भाग लेते थे। स्त्री स्वतंत्र थी तथा उसका पूर्ण उपयोग करती थी। स्त्रियों को नृत्य करने की स्वतंत्रता थी। महाकाव्य काल में भी उच्च वर्ण की स्त्रियाँ नृत्य एवं संगीत में रुचि लेती थीं। अयोध्या नगरी में तो उनके लिए नाट्य शालाएँ एवं विश्राम शालाएँ बनाई गई थीं। मंदिरों में संगीत, नृत्य तथा नाट्य की व्यवस्था रहती थी। महाभारत की शांता और कुन्ती क्रीड़ाओं में अपना बहुत समय व्यतीत करती थीं। रामायण में वर्णित "नाराज के जनपदे उद्यानानि समागताः। सायाहे कीडितुं याति कुमार्यो हेमभूषितः।" से सिद्ध है कि लड़कियाँ संध्या के समय बगीचों में जाकर खेलतीं एवं अपने मित्रों से बातें करती थीं। प्राचीन आर्य इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि स्त्रियों के प्रति सम्मान तथा उनकी सामाजिक स्वतंत्रता से ही सभ्यता का यथार्थ विकास है इसलिए वैदिक युग आर्यों ने स्त्रियों को सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार दिए। इस समानता तथा स्वतंत्रता ने आर्य नारी में उच्च सामर्थ्य विकसित किया। वैदिक युग के पश्चात् नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व धूमिल पड़ने लगा था। मनु की सामाजिक व्यवस्था में नारी का व्यक्तित्व पूर्णतया पुरुष में तिरोहित हो गया तथा वैदिक कालीन स्वतंत्र नारी अब मात्र कठपुतली बनकर रह गई, परन्तु इसके बाद भी मनु ने स्त्री के प्रति पारिवारिक आदर और सम्मान व्यक्त किया है। उन्होंने कहा कि जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती वहाँ देवता भी निवास नहीं करते।¹¹ मनु ने तो नारी को आदि शक्ति माना है। मनु के द्वारा स्त्रियों के प्रति व्यक्त की गई विरोधी भावनाओं के संबंध में विद्वानों का कहना है कि "मनुस्मृति के वे अंश जो नारी की निंदा करते प्रतीत होते हैं, वास्तव में पुरुषों की काम की शक्ति कि विरुद्ध चेतावनी है। स्त्री-पुरुष दोनों ही जब तक नियंत्रित न हो, इससे बच नहीं सकते।

वैदिक युग तक स्त्रियाँ स्वतंत्रता का उपयोग कर समाज में आदर तथा सम्मान का जीवन व्यतीत करती रहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनकी

स्वतंत्रता लुप्त होने लगी और सामाजिक प्रतिष्ठा का स्तर भी हीन होने लगा। परिणामस्वरूप उन्हें अमानवीय व्यवहार का पात्र होना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को दान के रूप में दिया जाना उसी प्रवृत्ति का द्योतक है। कन्या के पिता द्वारा किसी सुयोग्य वर को अपनी कन्यादान के रूप में देना तो सांस्कृतिक स्तर पर ऊँचा था तथा है, किन्तु राजाओं तथा धनिकों को इधर-उधर से प्राप्त कन्याओं को धनार्जन के लिए दान या दक्षिणा के रूप में लेने-देने की व्यवस्था मानवोचित कदापि न थी।

वैदिक समाज में तो पर्दे का नामो निशान भी न था। युवक वर्ग को स्वाधीनता पूर्वक युवतियों से मिलने की तथा उत्सवों एवं समारोहों में जाने की अनुमति थी। बालकों के साथ बालिकाएँ भी शिक्षा ग्रहण करती थीं। विवाह के पश्चात् भी पर्दा अपेक्षित न था, क्योंकि वधू को उपस्थित मेहमानों को दिखाया जाता था।¹² सामाजिक उत्सवों और जनसभाओं में स्त्रियों की उपस्थिति सामान्य बात थी और समाज में इसका स्वागत होता था। सांप्रतिक अधिकार का दावा करने के लिए स्त्रियों के न्यायालय तक में उपस्थित होने के प्रमाण हैं। महाकाव्य काल में अवश्य पर्दे के कुछ उदाहरण मिलते हैं। राज परिवारों में पर्दे का विशेष रूप से प्रचलन था। ई. शती के प्रारंभ होते ही सामान्य स्त्रियों को भी पर्दे में रखने की भावना प्रस्फुटित होने लगी, क्योंकि भास के नाटकों में पर्दा का अस्तित्व है। तृतीय ई. शती में यह उचित समझा जाने लगा कि उच्च कुलों की स्त्रियों को कुछ विशिष्ट लोगों के सामने ही उपस्थित होने दिया जाये तथा सामान्य लोगों के समक्ष अवगुंठन में ही रहें।¹³ यह प्रथा सम्भवतः सिर्फ उत्तर भारत में ही प्रचलित थी।

वैदिक समाज में महिलाओं के प्रति धारणा, हीन न थी, यद्यपि ऋग्वेद में कुछ वाक्य स्त्रियों के विरोध में कहे गये हैं, जैसे स्त्रियों का मस्तिष्क अनियंत्रित होता है तथा उससे मित्रता नहीं करनी चाहिए आदि। फिर भी सामान्य धारणा अच्छी थी, किन्तु ब्राह्मण धर्म में कर्मकाण्ड की प्रधानता होते ही महिलाओं को दुःखों को आगार मानकर उसके प्रति हीन विचार व्यक्त किए जाने लगे। कभी-कभी तो एक ही ग्रंथ में महिलाओं के प्रति दो विरोधी भावनाओं की अभिव्यक्ति है। एक ओर तो महिलाओं पर पथ भ्रष्टता का आरोप पुरुष पर लगाया गया, लेकिन दूसरी ओर यह कहा गया कि स्त्रियों से बढ़कर कोई पापी नहीं है। उन्हें जलती हुई आग, माया, उस्तरे की धार, विष तथा सर्प कहा गया। महाभारत के अनुरूप मनु ने भी नारी के प्रति हीन भावना व्यक्त की तथा उन्हें काम-क्रोध के वशीभूत ही पुरुषों को कुमार्ग पर प्रवृत्त करने वाली कहा है। ब्राह्मण साहित्य में तो स्त्रियों का शूद्र, श्वान, गाय, असत्य, अपराध तथा अंधकार के पुंज के रूप में वर्णन है। स्मृतिकारों तथा सूत्रकारों ने स्त्रियों की स्वतंत्रता छीनकर उन्हें पुरुषों पर निर्भर बना दिया। बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था में उन्हें क्रमशः पिता, पति तथा पुत्र के संरक्षण में रख दिया।

वैदिकोत्तर काल में महिलाओं की स्थिति

वैदिकोत्तर काल में परम्पराएँ 'सामूहिक अवचेतन' के रूप में इस तरह रच-बस गई हैं कि स्त्री उनसे बाहर आना बहुत दुष्कर है। ये परम्पराएँ हैं - प्रेम में स्त्री का पहल करना चरित्रहीनता का प्रमाण है। सहनशीलता, लज्जा, कोमलता और परनिर्भरता औरत का स्वभाव है। मर्यादा, पति-सेवा, घर और बच्चों का पालन-पोषण उसका दायित्व है। वह अपवित्र है, माया है, रौरव नरक का द्वार है, आदि-आदि।

यही नहीं- 'त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं- दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' कह कर बड़ी आसानी से औरत के चरित्र को संदिग्ध करार दे दिया गया, जबकि पुरुष को अपने भाग्य का विधाता करार

दिया गया। चरित्र का मानदंड शायद ही कभी पुरुष पर लगा हो। प्रागैतिहासिक काल से महिलाओं को अपनी मेधा का प्रमाण देना पड़ा है। महिलाओं ने अपनी प्रबल मेधा का परिचय विभिन्न सूक्तों की रचना कर दिया है। ये वैदिक सूक्त परिष्कृत मनीषा वाली समधीत स्त्रियों की एक पूरी परम्परा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। आज कल की बौद्धिक महिलाओं के समान वैदिक युग की महिलाओं भी मेधा में प्रखर थीं। वे विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ करने की क्षमता रखती थीं। इन वैदिक कालीन नारियों को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था।¹⁴ परम विदुषी मैत्रेयी ने वैभव का परिहास करते हुए सब कुछ त्याग दिया था। ये वैदिक कालीन स्त्रियाँ गृहस्थी से परे भी अपना अस्तित्व रखती थीं। अश्विनी कुमारों से घोषा प्रार्थना करती है कि जब भी कोई ब्रह्मचारिणी नारी पति की इच्छा करें तो उसे उसके अनुकूल वर प्राप्त हो। पति के घर वधू को जीवन के सभी साधन सुलभ रहे और सदा उसके घर दया, परोपकार, उदारता और शालीनता आदि गुण बने रहें। हमारे समाज ने जाबाला, घोषा, मैत्रेयी, गार्गी और माधवी को हमारा आदर्श नहीं बनने दिया। नारी जाति के लिए सीता और सावित्री को आदर्श माना गया। इसका कारण नारी को परिवार तक सीमित रखना था। प्रारम्भ में कबीलाई समाज में नारी स्वतंत्र और निरंकुश थी। उसकी सुरक्षा के नाम पर परिवार एवं घर नामक संस्था का बीजारोपण हुआ। हमारे दैवीय ग्रंथों में भी पूरे देवी-परिवार का उल्लेख हुआ है और वे अन्य देवताओं के निर्देश पर सारे कार्य करती हैं।¹⁵ वैदिक युग में स्त्री की दशा सम्पन्न थी। स्त्री का समाज में वही स्थान था जो शरीर में नाड़ी का होता है। शरीर में नाड़ी की तीव्र गति या मन्द मन्द दोनों ही गतियाँ अस्वस्थता की द्योतक हैं। अतः चिकित्सा शास्त्र के अनुसार शरीर में नाड़ी का समभव में चलना ही श्रेयस्कर माना जाता है। वैदिक समाज में यही स्थिति नारी की थी।

परन्तु उत्तर वैदिक काल तक आते-आते स्त्रियों की दशा उतनी अच्छी नहीं रह गई थी। इस विषय में पी०वी० काणे का मत है कि – "उत्तर वैदिक काल में स्त्रियाँ नीची दृष्टि से देखी जाती थीं। उन्हें सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता था तथा वे आश्रित थीं।"¹⁶ उत्तर वैदिक काल में महिलाओं के उपनयन का अधिकार समाप्त हो गया था। उनके संस्कारों के समय वेदों का उच्चारण नहीं किया जाता था। निर्धन लोगों में एक पत्नी की प्रथा थी लेकिन धनी तथा राजसी घरानों में बहु-विवाह भी प्रचलित थे। एक से अधिक पुरुष के साथ एक स्त्री के विवाह की प्रथा का उल्लेख अथर्व वेद से मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, पत्नी अपने पति की अर्द्धांगिनी थी और उसी के कारण वह (पति) पूर्ण था लेकिन वास्तव में इस युग में पत्नी की स्थिति निम्न होती गई थी। कई संस्कार, जो पहले पत्नी करती थी, अब पुरोहितों द्वारा सम्पन्न किए जाते थे। उसे राजनीतिक परिषदों में भाग लेना वर्जित था। आदर्श पत्नी उसे समझा जाता था जो आत्म समर्पण करे और पति के बाद ही भोजन ग्रहण करे। कन्या के जन्म को कष्ट और दुःख का स्रोत समझा जाता था।

सभ्यता, संस्कृति, तथा कला के शिखर पर आरूढ़ वैदिक युग में 'शक्ति', 'देवी', 'सती' के रूप में महिमामंडित महिलाओं को कुछ अधिकार पुरुषों की कृपा से प्राप्त थे।

महाकाव्य युग में महिलाओं की स्थिति

रामायण और महाभारत को प्रमुख महाकाव्य माना जाता है। रामायण हिन्दुओं का प्राचीनतम और लोकप्रिय महाकाव्य है। इसमें

सात काण्ड और 2,400 श्लोक हैं। इसकी रचना बाल्मीकि ऋषि ने की थी। महाभारत के अठारह भाग हैं और इसमें लगभग एक लाख श्लोक हैं। इसकी रचना व्यास मुनि ने की थी।

रामायण युग की महान आदर्शवादी नारी सीता जिसने भारतीय संस्कृति को इतनी गौरवमयी ऊँचाई दी, जो आज भी घर-घर में पूजनीय है। वह सीता भी अन्त में किसी को प्रायश्चित्त का मौका दिये बगैर आत्महंता बन बैठी। यह सीता का समाज के प्रति और अपने पति के प्रति प्रतिरोध ही था। सीता ने अपने विवेक से नियम कायदों में परिवर्तन किया (लक्ष्मण रेखा लांघना वन गमन आदि) और परिणाम को झेला। उनके पति ने तो गर्भावस्था में भी उनका परित्याग करते हुए संकोच नहीं किया। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम लक्ष्मण को शक्ति लगने पर कह उठते हैं— 'नारि हानि विशेष छति नहीं।' ¹⁷

महाभारत में द्रौपदी को ब्रह्मवादिनी कहा गया है। द्रौपदी ने युधिष्ठिर के इस अधिकार को अस्वीकार नहीं किया कि वह जुए में उसे किसी और के हाथ में सौंप दे। सती प्रथा प्रचलित थी क्योंकि माद्री अपने पति पाण्डु की चिता पर सती हो गई थी। बहुविवाह का प्रचलन था, अर्जुन ने कई विवाह किये थे। 'नियोग' की प्रथा प्रचलित थी। विधवाओं के पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन महाकाव्य काल तक बाल विवाह शुरू हो गये थे पुरुष प्रदौपदी जैसी विदुषी स्त्री को एक वस्तु के समान बॉट लेते हैं और द्यूतक्रीड़ा में दौंव पर लगा देते हैं।

यदि महाभारत आदि ग्रंथों का स्त्री विमर्श की दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो पितृसत्ता नदारत दिखती है। सारे विराट पुरुषों की उत्पत्ति चाहे दशरथ के चारों पुत्र हों, बलराम हों, हनुमान या पाण्डुपुत्र, कर्ण इत्यादि, इनका जन्म जिस प्रक्रिया के तहत हुआ वह स्त्री सत्ता के सबलीकरण पर जोर देता है। द्रौपदी कृष्ण को केवल अपना सखा समझती थी, बिना किसी रिश्ते या बंधन के सख्यभाव का ऐसा उदाहरण अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

संस्कृत नाटककारों ने युगों से उपेक्षित महिलाओं को अपने नाटकों में नया आयाम दिया है। कालिदास द्वारा विरचित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक के पाँचवें अंक में दुष्यन्त को शकुन्तला से क्षमा माँगनी पड़ती है। शकुन्तला पति द्वारा त्यागे जाने पर निस्सहाय होकर आत्महत्या नहीं करती अपितु अपने पुत्र को जन्म देती है और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती है।

भवभूति के नाटक मालती-माधव के तीनों नारी पात्र चेतन हैं एवं अपने अधिकारों के लिए अत्यन्त सजग हैं। 'मालती', 'मकरन्दिका' और 'कुण्डला' आदि मात्र अलंकरण नहीं अपितु अधिकार सजग नारियाँ हैं।

भारवि की द्रौपदी भी स्वाभिमानी नारी है। अपने आपको द्यूतक्रीड़ा में दौंव पर लगाये जाने का वह कड़ा प्रतिरोध करती है।

भवभूति के 'उत्तररामचरित' में मौन-मूक होकर भी सीता काफी कुछ कह जाती हैं। इसी नाटक की एक अन्य पात्रा वासन्ती जो वन देवी है एवं सीता की सखी भी वह सीता के वनगमन पर राम को उलाहना देती है एवं राम के प्रति तिरस्कार का भाव प्रकट करती है। भवभूति के इस नाटक में कौशल्या, सुमित्रा आदि नारी पात्राएँ असंतोष से ग्रस्त दिखती हैं। उन्हें अपनी स्थिति एवं नियति पर घोर असंतोष है।

आदर्श महिलाओं की जो रूढ़िबद्ध धारणा शास्त्रीय ग्रंथों ने प्रस्तुत की महिलाओं आज भी उस छवि में जीने के लिए अभिशप्त है। इस छवि से बाहर जाने पर उसे कुलटा कहा जाता है। पुरुषों ने स्त्री को नियंत्रित करने के लिए सारे धर्म ग्रंथों की रचना की। नारी धर्म बनाने वाले पुरुषों ने अपने लिए हर जगह स्वतंत्रता रखी। उनके

सारे विधान स्त्री को अपने से बांध कर रखने वाले हैं। इन विधानों से बाहर निकलने पर पुरुष वर्ग स्त्री के चरित्र को 'तिरिया चरित्तर' की संज्ञा से विभूषित करता है।

मनुस्मृति हिन्दू विधि पर सबसे प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। यह पुस्तक हिन्दू विधि की आधारशिला थी और ब्रिटिश राज्य के समय अंग्रेजों ने इसे मान्यता दी।

मनुस्मृति में 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' कहना भी एक तरह से पुरुष की होशियारी ही है कि यदि नारी प्यार से सेविका बनने को तैयार है तो फिर किसी दण्ड की क्या आवश्यकता। 'न स्त्री स्वातंत्र्यपहति' 18 कह कर मनु ने स्त्री के स्वतंत्रता के सारे अधिकारों से बंचित कर दिया। कौटिल्य ने कहा था कि केवल वैश्या ही स्वतंत्र हो सकती है। मनुस्मृति में विवाह-विच्छेद करने वाली स्त्री को कुत्तों से कटवाने का विधान था। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में जिन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है उनमें से असुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह स्त्री के लिए कितने असहनीय रहे होंगे। अन्य कोई विकल्प न होने पर मजबूरी में इन विवाहों को स्त्रियाँ स्वीकारती रही होंगी तभी तो मनुस्मृति में इनका वर्णन किया गया है। वैदिक काल में कन्यादान की तुलना गोदान से की जाती थी अर्थात् गोदान कन्यादान की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ था। कन्या जन्म से ज्यादा खुशी परिवार में गाय आने पर होती थी।

याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, की अपेक्षा अधिक नियमित है। जहाँ मनु ने ब्राह्मण को शूद्र कन्या से विवाह की आज्ञा दी वहीं याज्ञवल्क्य ने इसकी घोर निन्दा की है। मनु ने नियोग की भर्त्सना की है लेकिन याज्ञवल्क्य ने ऐसा नहीं किया। याज्ञवल्क्य ने विधवा स्त्रियों के अधिकार स्पष्ट रूप से व्यक्त किये। इस प्रकार याज्ञवल्क्य मनु की अपेक्षा नारी जाति के प्रति उदार थे।

विष्णु स्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति के पश्चात की रचना है क्योंकि इसके कुछ भाग याज्ञवल्क्य स्मृति से लिए गये प्रतीत होते हैं। विष्णु स्मृति में सतीप्रथा का वर्णन किया गया है।

नारद स्मृति भी मनु स्मृति के पश्चात की रचना है। मनु जहाँ नियोग और स्त्रियों के पुनर्विवाह के विरुद्ध थे, वहीं नारद के विचार ऐसे नहीं थे, उन्होंने स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज्ञा दी लेकिन साथ ही साथ विधवा स्त्री को अपने पति की सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया।

निष्कर्ष

वैदिक और वैदिकोत्तर काल में स्त्रियों की जो ऊँची स्थिति थी, वह अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। धर्मसूत्रों में बाल विवाह का निर्देश दिया गया, जिससे कि स्त्रियों की शिक्षा में बाधा पहुँची और उनकी शिक्षा मामूली स्तर पर आ गई। चूँकि उन्हें लिखने-पढ़ने के अवसर प्राप्त न थे, इस कारण वेदों का ज्ञान असम्भव हो गया। उनके लिए धार्मिक संस्कार में भाग लेने की मनाही हो गई। उनका प्रमुख कर्तव्य पति की आज्ञा पालन हो गया। विवाह स्त्रियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया। विधवा विवाह पर निषेध जारी किया गया। बहुपत्नी – प्रथा का प्रचलन और बढ़ा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक युग की तुलना में उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आना प्रारम्भ हुआ। स्मृति युग में स्त्रियों की स्थिति में और अन्तर आया। स्मृति युग में महिलाओं का सम्मान केवल माता के रूप में होता था, न कि पत्नी के रूप में। इस युग में विवाह की आयु घटाकर 12 या 13 वर्ष कर दी गई। विवाह की आयु घटने से शिक्षा न के बराबर हो गई। इस युग में स्त्रियों के समस्त अधिकारों में कमी आई। स्मृतिकारों ने यह निर्देश दिया कि स्त्रियों को किशोरा अवस्था में स्वतंत्र न रखा जाए। स्त्रियों का परम कर्तव्य पति की सेवा माना जाता था, चाहे वह पति किसी भी

तरह का हो। विधवाओं के पुनर्विवाह पर, कठोर निषेध लगा दिए गए। सती होना सर्वोत्तम माना जाने लगा।

सन्दर्भ:

1. रतिभानु सिंह नाहर : पूर्व मध्यकालीन सभ्यता एवं संस्कृति, पृ. 683
2. ऋग्वेद से
3. महाभारत से
4. वी. डी. शुक्ल : पूर्व मध्यकालीन संस्कृति और जीवन, पृ. 304
5. वी. डी. शुक्ल : पूर्व मध्यकालीन संस्कृति और जीवन, पृ. 309
6. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय संस्कृति
7. वासुदेव शरण अग्रवाल : भारतीय संस्कृति, पृ 96
8. वासुदेव शरण अग्रवाल : भारतीय संस्कृति, पृ 98
9. ऋग्वेद से
10. डॉ. एस कपूर : भारत में पूर्णजागरण, पृ. 36
11. महाभारत से
12. कालीशंकर भटनागर : भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ. 301
13. कालीशंकर भटनागर : भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ.38
14. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय संस्कृति
15. दुर्गा सप्तशती के तीनों रहस्य पाठ
16. पी. वी. काणे : हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग – 1,
17. लंका काण्ड – रामचरित मानस, 61वीं चौपाई
18. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति न्यविरे पुत्रः न स्त्री स्वातंत्र्यमवि – मनुस्मृति-4/3